ARYAVART SHODH VIKASH PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 325-326
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-7, No.-I, Issues-VIII YEAR- June-2017

# कृषि के विकास में ग्रामीण विकास कार्यक्रम की भूमिका

**डॉ0 हंसा लुनायच**
सह आचार्य– भूगोल विभाग, राजकीय कन्या महाविद्यालय, चौमू–जयपुर, (राजस्थान) भारत

***भारत की सम्पूर्ण जनसंख्या का 70% अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए कृषि पर ही निर्भर है। भारतीय जनसंख्या की अत्यधिक तेजी से वृद्धि एवं भारतीय भू–सम्पदा पर बढ़ती हुई निर्भरता के साथ ही दैवी आपदाओं का बढ़ता हुआ प्रकोप यहाँ के जनमानस के समक्ष अत्यधिक समस्याओं का सृजन कर रहा है। बढ़ता हुआ प्रदूषण, परम्परागत उद्योग तथा साथ ही औद्योगिक असमानता जैसी समस्याएं भारतीय परिप्रेक्ष्य में जागृत हुई हैं। यहाँ की अत्यधिक जनसंख्या कृषि व्यवस्था पर निर्भर है। कृषि उत्पादन में निरन्तर कमी होती जा रही है। आज की युवा पीढ़ी जिसे देश का कर्णधार समझा जाता है वही अपने कंधे को कृषि से हटाकर नगरीय चकाचौंध में अपने आपको विलीन करने का प्रयास कर रहा है। आज कृषि की आँख मिचौली के सामने टिक पाने की हिम्मत सम्भवतः किसी में नहीं है। फलस्वरूप ग्रामीण प्रतिभा में पलायन की स्थिति पैदा हो गई है।***

कृषि अविकसित रहेगी तो केवल भुखमरी ही नहीं, देश के औद्योगिक विकास के मार्ग में भी रुकावट पैदा होगी। हमें अपनी जनता का पेट भरने के लिए तथा औद्योगिक संस्थानों के लिए कच्चा माल खरीदने के मदों के लिए सुरक्षित धनराशि खाद्यान्नों पर व्यय करना पड़ेगा और साथ ही खाद्यान्न निर्यात करने वाले देशों के साथ कभी–कभी अपमानजनक सौदा भी होगा। यही नहीं उनकी नीतियों के सामने सिर झुकाना पड़ सकता है। आँकड़ों से स्पष्ट है कि हमारे देश में 1950 से लेकर अब तक खाद्यान्न के आयात की मात्रा में बराबर वृद्धि हुई है।[1] 1950 से 1976 तक जो अधिक मूल्य के खाद्यान्न आयात किये गये, उनका मूल्य तत्कालीन दर पर रु0 7283 करोड़ था। 1977 की मूल्यों के आधार पर यह राशि 16178 करोड़ रूपये होती है। यदि यह राशि हम अपने किसानों को ही देते तो न केवल हमारी कृषि प्रणाली सुधरती, अपितु औद्योगीकरण को भी बढ़ावा मिलता। परिणाम यह होता कि कृषिपरक वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि होती, रोजगार बढ़ते और संसार में हमारा देश निर्धनता की स्थिति में नहीं पहुँचता।

हम खाद्यान्न का उत्पादन लगातार बढ़ाने की आवश्यकता की, न तो अवहेलना कर सकते हैं और न ही उसके प्रति उदासीन रह सकते हैं। यदि ऐसा किया गया तो देशवासियों को खिलाने के लिए हमें निश्चित रूप से खाद्यान्न के आयात पर निर्भर रहना पड़ेगा। यह बात भी अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि खाद्यान्नों के आयात के बाहरी साधन हमारी राजनीतिक नियन्त्रण में नहीं हैं। अन्न के बदले में वे हमें अपनी नीति और प्रभाव भी देंगे। संसार की परिस्थितियाँ बड़ी तेजी से बदल रही है, इसलिए हम विदेश से लगातार आयात नहीं कर सकते, जैसा कि प्राचीन रोम और ग्रीक अथवा आधुनिक ब्रिटेन या यूरोप ने सामन्तशाही के अपने स्वर्णिम दिनों में किया था।[2] स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व भारतीय समाज व्यवस्था एवं कृषि व्यवस्था वाह्य शासकों के अधीन शोषित होती रही है। इन शासकों का मुख्य ध्येय नयी समस्याओं का सृजन तथा इन समस्याओं के प्रतिफलित लाभ का अर्जन करना रहा है। भारतीय कृषि व्यवस्था का पुनर्संगठन करने का सराहनीय कार्य किया। इस समय दो प्रकार की भूमि व्यवस्थाएं स्थापित की गयी–जमींदारी एवं रैयतवाड़ी।[3]

जमींदारी व्यवस्था के अन्तर्गत कर वसूल करने वाले देशी कर्मचारियों को सरकार और खेतिहर किसानों के बीच–बिचौलियों और जमींदार के पद पर प्रतिष्ठित करने के साथ ही उन्हें भू–स्वामी बनाकर लगान वसूल करने का अधिकार देकर एक अभिजात वर्ग के रूप में विकसित किया गया।

जमींदारी प्रथा के परिणाम स्वरूप लाखों खेतिहर किसान, जिनके अत्यन्त प्राचीनकाल से अपने खेती के भूमि के अधिकार सुरक्षित थे, अचानक अपनी ही भूमि पर जमींदारी के मातहत असुरक्षित काश्तकारों के रूप में बदल दिये गये।[4] दूसरी ओर रैयतवाड़ी व्यवस्था के अन्तर्गत सरकार और किसानों के बीच किसी प्रकार के बिचौलिए की व्यवस्था नहीं की गयी। भूमि की असली जोतदारों या रैयतों को हस्तांतरणीय और मौख्शी भूस्वामित्व देने की व्यवस्था की गयी। ब्रिटिश सरकार ने भू–राजस्व मनमाने ढंग से वसूल करना प्रारम्भ किया यदि भू–स्वामी भू–राजस्व अदा करने में थोड़ी सी देर अथवा आनाकानी करता तो उसकी भूमि नीलाम हो जाती थी। इसके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में वणिक व्यवस्था का बढ़ता हुआ दुष्प्रभाव

**अनुरूपी लेखक**



ASVS Society Reg. No. 561/2013-14

यथा–सूदखोरी, मुनाफाखोरी, कृषकों के लिए नवीन समस्याओं का सृजन करता था। संक्षेप में इस बात की पुष्टि की जा सकती है कि भारतीय भूस्वामी मात्र लगान उपजीवी थी। भूमि उनकी थी, कृषि कार्य कोई और करता था। मुनाफे का भागीदार कोई और था। तत्कालीन समाज में भूअधिपति दिखावे के लिए मनमाने खर्च करता था। परिणामस्वरूप उसे अपनी भूमि की संख्या में कमी करनी पड़ती थी। इतना ही नहीं, तत्कालीन समाज में कृषि के पिछड़े होने के मूल में बहुत सारी आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं नैतिक समस्याएं दैत्याकार रूप में समाज में व्याप्त थीं। आर्थिक दृष्टि से किसान के पास न तो उत्तम बीज था और न ही उचित उपकरण थे।[5]

तत्कालीन कृषक उपकरण के अभाव में येन–केन प्रकारेण कृषि कार्य कर लेता था परन्तु उसे समुचित लाभ नहीं मिल पाता था। स्वतन्त्रता के पूर्व समाज इन दो वर्गों में विभक्त था। जैसा कि मार्क्स ने स्वीकार किया कि भारतीय समाज शासक (पूंजीपति) एवं शासित (मजदूर) दो वर्गों में विभक्त था। जहाँ एक वर्ग दूसरे का खुले आम षोशण करता था।[6] शोषक वर्ग अधिक से अधिक लाभ की आकांक्षा करता था और शोषित वर्ग किसी प्रकार अपने जीवन–यापन के साधनों को जुटाता था। परन्तु शोषित वर्ग सदैव असफल रहा। फलस्वरूप कृषि क्षेत्र में एक शीत युद्ध की विभीषिका प्रकट हो गई थी। सिंचाई के साधनों के अभाव में एवं भूमि का अधिक भाग वनों से भरा होने के कारण उस समय कृषि कार्य दुरुह था। ब्रिटिश सरकार की बाद की औपनिवेशक नीति ने इन समस्याओं के निराकरण को एक गति प्रदान की। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति ने भारतीय जनमानस को अपने कर्तव्य के प्रति सचेष्ट किया। फलस्वरूप कृषि के नवीन तरीकों का आविर्भाव हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात आधुनिक भारत के निर्माताओं का ध्यान ग्रामीण विकास की ओर गया परन्तु ग्राम विकास की समस्या एक ऐसी समस्या के रूप में जनमानस के सामने दृष्टिगोचर हुई, जिसे जितना ही कम करने का प्रयास किया जाता रहा, वह उतना ही बढ़ती रही। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात कृषि एवं ग्रामीण विकास की समस्याएं भारतीय समाज के सामने आयीं; उनमें मुख्य रूप से सामाजिक समस्या, कृषि समस्या एवं आर्थिक समस्याएं मुखरित हुईं।[7]

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के ढाँचे में मूलभूत कमियाँ आज भी वर्तमान हैं जो विशाल ग्रामीण जनसंख्या को नगरों की ओर प्रदर्शित होने के लिए निरन्तर प्रेरित करती हैं।गाँव से विस्थापित होकर गरीब रोजी–रोटी की खोज नगरीय जीवन के आकर्षण, अत्यधिक आय की सम्भावना, शिक्षा, चिकित्सा एवं मनोरंजन की सुविधाएँ तथा साधनों की उपलब्धि के कारण बड़ी संख्या में लोग नगरों में आते रहते हैं। ग्रामीण समाज में गन्दगी एवं स्वास्थ्य की समस्या, अधंविश्वास, रूढ़िवादिता, ईर्ष्याद्वेष, छुआ–छूत, दलबन्दी आदि की समस्याएं जटिल रूप में विद्यमान है। ग्रामीण विकास कार्यक्रम में निम्नलिखित विकास कार्यक्रमों की मुख्य भूमिकाएं रहीं हैं– समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई0आर0डी0पी0), राष्ट्रीय ग्रामीण योजना कार्यक्रम (एन0आर0ई0पी0), ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारण्टी कार्यक्रम (आर0एल0ई0जी0पी0) आदि ग्रामीण विकास के लिए जिन अन्य कार्यक्रमों की भूमिका है। उनमें स्वरोजगार के लिए ग्रामीण युवा वर्ग के प्रशिक्षण के राष्ट्रीय कार्यक्रम (ट्राइसम), ग्रामीण विकास आई0आर0टी0पी0 कार्यक्रम प्रमुख है। इन कार्यक्रमों के द्वारा ग्रामीण विकास को प्राथमिकता दी जाती है।

भारत कृषि प्रधान देश है। आज ग्रामीण अंचलों के विकास की अनेक योजनाएँ लागू की गई है, किन्तु सुख–सुविधा और साधनों के अभाव में ग्रामीण प्रतिभा का पलायन जारी है। अतः कृषि प्रधान देश के सर्वांगीण विकास के लिए यह आवश्यक है कि ग्रामीण विकास कार्यक्रमों को और अधिक प्रभावी बनाया जाय।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, चरण, रविवार खण्ड, 7 अंक 28, 11–17 मार्च, 1984।
2. एग्रीकल्चर लेजिस्लेशन इन इण्डिया, खंड 4 लैण्ड रिफार्म्स (एबोलिषन ऑफ इण्टरमीडिएरिच) डायरेक्टरेट ऑफ इकोनॉमिक्स एण्ड स्टैटिस्टिक्स, मिनिस्ट्री ऑफ फूड एण्ड एग्रीकल्चर, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया।
3. रिपोर्ट ऑफ यूनाइटेड प्राविन्सेज, जमींदारी एबोलिशन कमेटी खण्ड–1 अध्याय 4 इलाहाबाद 1948.
4. रिपोर्ट ऑफ यूनाइटेड प्राविन्सेज, जमींदारी एबोलिशन, कमेटी खण्ड–1 पृष्ठ 134.
5. यादव, जयराम, ग्रामीण सामाजिक आर्थिक दशाएं, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय 1984, पृष्ठ 2.
6. शर्मा, डॉ0 लालचन्द्र, शहरीकरण से उत्पन्न समस्याएं–कारण और निवारण, अक्टूबर 1987 पृष्ठ–1.
7. मनोरमा ईयर बुक–1985, मनोरमा पब्लिसिंग हाउस, पृष्ठ 400–401।

*****

ASVS Society Reg. No. 561/2013-14